वर्ष चौथा
अंक १२

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

चैत्र
२४७५

तीर्थंकरों का पथ

भगवन्तों ने स्वभाव के आश्रय से ही पूर्णता प्रगट की है, और कर्मों का क्षय किया है। जिस विधि से अरिहंत भगवन्तों ने स्वत: कर्मों का क्षय किया है, उसीप्रकार उपदेश दिया है। आत्मस्वभाव के आश्रय से ही मुक्ति होती है, पराश्रय से मुक्ति होती ही नहीं–ऐसा उपदेश सभी अरिहंतों ने किया है। यहाँ सिद्ध भगवान की बात न लेकर तीर्थंकरों–अरिहंतों की बात ली है। तीर्थंकरों के नियम से दिव्यध्वनि होती है और उस ध्वनि में स्वाश्रय का उपदेश सुनकर अपने में स्वाश्रय प्रगट करके तीर्थंकरों के पथ पर चलनेवाले जीव होते ही हैं। इसप्रकार वक्ता और श्रोता की संधि से बात है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

४८

एक अंक
चार आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

धर्मात्मा का समभाव

[परमात्म प्रकाश गाथा १०४ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन]

धर्मात्मा जीव की दृष्टि आत्मा के स्वभाव पर होती है, इससे उसे समस्त भावों पर समभाव होता है। वह आत्मा के त्रैकालिक स्वरूप को मानता है, किन्तु पर्याय जितना ही स्वरूप को नहीं मानता, इससे वह किसी जीव को शत्रु या मित्ररूप से नहीं देखता। इसलिये दूसरों को देखकर उसे पर्यायदृष्टि का राग-द्वेष नहीं होता किन्तु समभाव ही रहता है।

'मैं दूसरे का कर सकता हूँ अथवा अन्य कोई मेरा कुछ कर सकता है-ऐसा तो कभी नहीं होता। मैं किसी का शत्रु या मित्र नहीं हूँ, क्योंकि मैं तो ज्ञाता ज्ञायकमूर्ति स्वभावसम्पन्न तत्त्व हूँ और सभी जीव ऐसे ही हैं'—ऐसा धर्मात्मा जानता है। धर्मी जीव को ऐसी स्वभावदृष्टि में पुण्य-पाप का भी स्वीकार नहीं है। पर्याय में अस्थिरता के कारण अल्पराग-द्वेष होता है, किन्तु वह दूसरों को शत्रु या मित्र मानकर नहीं होता, और उसे स्वभाव में स्वीकार नहीं करता, तथा उस राग-द्वेष के समय ज्ञानस्वभाव की एकता एवं श्रद्धा नहीं छूटती; इससे वास्तव में तो ज्ञानी के राग-द्वेष होता ही नहीं, किन्तु स्वभाव की एकता ही होती है।

ज्ञानी जीव के अपने स्वभाव की श्रद्धा और एकाग्रता छूटकर राग-द्वेष नहीं होता। राग-द्वेष हो, उस पर्याय जितना आत्मा को नहीं मानता; इसप्रकार अपने में पर्यायदृष्टि दूर हो गई है, इससे पर जीव को भी पर्याय जितना नहीं जानता, इसलिये पर की पर्याय देखकर ज्ञानी के राग-द्वेष नहीं होते। इसप्रकार ज्ञानी के पर्यायबुद्धि का कार्य नहीं आता, इसलिये ज्ञानी जीव पर्याय को देखता है-ऐसा वास्तव में नहीं कहा जा सकता। अपने आत्मा में पर्यायबुद्धि दूर होकर स्वभावदृष्टि हुई है इससे, 'मैं राग-द्वेष करनेवाला हूँ'—ऐसा ज्ञानी को भासित नहीं होता। इसलिये परजीवों में भी रागादि पर्याय देखकर उन्हें राग-द्वेष नहीं होता, उनका ज्ञान, राग से अधिक ही रहता है, इसी का नाम समभाव है, और यही धर्म है।

अज्ञानी जीव को पर्यायबुद्धि में मात्र राग-द्वेष ही भासित होता है। अपना त्रैकालिक स्वभाव राग-द्वेषरहित है, उसे दृष्टि में नहीं लिया है, इससे वह अपने को पर्याय जितना ही देखता है। 'यह जो राग हुआ, सो मैं हूँ; राग मैंने किया है, मैं रागरूप हुआ हूँ, मैं मनुष्य हूँ, अमुक जीव मेरा शत्रु या अमुक मित्र'—इसप्रकार अज्ञानी जीव के पर्यायबुद्धि ही है, और इससे उसे पर्यायबुद्धि का

अनन्त राग-द्वेष होता है। पर्यायबुद्धि के कारण ही भगवान को देखकर राग और निगोदादि को देखकर द्वेष होता है। ज्ञानी जीवों के पर्याय का ज्ञान तो होता है, किन्तु पर्यायबुद्धि नहीं होती। इससे वे सभी जीवों को परमात्मा ही जानते हैं-यह सम्यग्दृष्टि का चिह्न है। ज्ञानी जीव के पर्याय को जानने पर भी पर्यायबुद्धि के रागादि किंचित् भी नहीं होते। इसलिये वास्तव में तो ज्ञानी जीव पर्याय को जानते ही नहीं हैं। इसप्रकार यहाँ स्वभावदृष्टि की मुख्यता है।

जिसकी दृष्टि आत्मस्वभाव पर नहीं है, वह जीव सभी आत्माओं को समान जानता ही नहीं, किन्तु शरीर के भेद से वह जीव में भेद करता है, इससे वह अन्य को शत्रु या मित्र मानता है। उसके किसी प्रकार समभाव नहीं होता। मैं ज्ञानस्वभाव हूँ, और सभी जीव ज्ञान स्वभावी हैं—ऐसी दृष्टि में ज्ञानी को सबके ऊपर समभाव ही है, किसी भी जीव को देखने से उसके ऊपर राग-द्वेष नहीं होता, क्योंकि वे जानते हैं कि ज्ञानस्वभाव में कोई परद्रव्य लाभ या हानि नहीं करता।

अपने स्वभाव के आश्रय से ही सभी जीवों पर समभाव रहता है। भगवान की कृपा हो तो मुझे समभाव रहे-ऐसा माननेवाला गृहीत मिथ्यादृष्टि है। मैं और समस्त जीव पूर्ण परमात्मस्वरूप ही हैं-ऐसी द्रव्यदृष्टि के बिना समभाव नहीं हो सकता। भगवान की कृपा हो तो मुझे समभाव रहे-ऐसा माननेवाले ने अपने परिणामों की स्वाधीनता को भी नहीं माना है। जिसने वर्तमान पर्याय की स्वाधीन सत्ता को भी नहीं माना है, वह पर्याय के आधारभूत त्रैकालिक द्रव्य को तो कैसे मानेगा? त्रैकालिक द्रव्य के आधार के बिना पर्यायबुद्धि दूर नहीं होती और समभाव नहीं आता। शत्रु के प्रति द्वेषपरिणाम या मित्र के प्रति रागपरिणाम, सो विकार है, वह आत्मा की अवस्था में होता है, और आत्मा वह करता है, तथा उसे दूर करके समभावरूप वीतरागपरिणाम भी आत्मा ही करता है। उसके बदले अपने समभाव का या राग-द्वेष का कारण जो पर को मानता है, वह जीव अपनी पर्याय की स्वतंत्रता को भी नहीं मानता। इससे शत्रु को देखकर एकत्वबुद्धि का द्वेष और मित्र को देखकर एकत्वबुद्धि का राग उसे होता है, उसके अनन्त विषमभाव हैं। ज्ञानी जानता है कि मेरे आत्मस्वभाव में विकार नहीं है, पर के कारण विकार नहीं होता, मेरी वर्तमान दशा की अशक्ति से राग-द्वेष होता है, किन्तु उतना ही मैं नहीं हूँ—ऐसी मान्यता से ज्ञानी के समभाव है।

आत्मा के शांतिरूप परिणाम, सो समभाव है। आत्मा शांति का पिंड है, स्वतः कर्ता होकर स्वतंत्ररूप से, स्वभाव के आधार से समभावरूप परिणमन करता है। स्वभाव का आश्रय छोड़कर अन्य के आधार से समभाव माने, उसे कभी समभाव नहीं होता।

कोई जीव ऐसा तो नहीं मानते कि 'भगवान मुझे समभाव रखाये;' किन्तु भगवान के निमित्त से मुझे समभाव रहे अथवा भगवान के लक्ष्य से मैं समभाव रखूं–ऐसा माने तो वह भी अज्ञानी है। भगवान के लक्ष्य से समभाव रहे–ऐसा मानने से भगवान के ऊपर राग–भाव और दूसरों पर द्वेषभाव —ऐसा विषमभाव उसके अभिप्राय में ही आ गया।

ज्ञानी जानते हैं कि समभाव भगवान तो रखाते नहीं हैं, कोई अन्य मुझे निमित्त बनकर समभाव रखाये, ऐसा भी नहीं है। मेरा समभाव किसी अन्य की अपेक्षा से नहीं है, किन्तु अपने स्वभाव के लक्ष्य से ही मेरा समभाव है। मेरा समभाव शरीर के आश्रय से नहीं है, देव, गुरु, शास्त्र के आधार से नहीं है, राग के आधार से नहीं है, और उन सबको जाननेवाला जो वर्तमान ज्ञान है, उस वर्तमान ज्ञान के आधार से भी नहीं है, क्योंकि मैं क्षणिक ज्ञान जितना नहीं हूँ, किन्तु त्रैकालिक स्वतंत्र विकाररहित पूर्ण ज्ञानस्वभाव हूँ, उसके ही आश्रय से मेरा समभाव है। इसप्रकार पर की, विकार की और पर्याय की दृष्टि छोड़कर ज्ञानी अपने एकरूप स्वभाव को देखते हैं और अन्य आत्माओं को भी वैसा ही देखते हैं, इससे ज्ञानी को सभी पर समभाव है। अपनी या पर की अवस्था को देखकर उन्हें पर्यायबुद्धि का राग–द्वेष नहीं होता, क्योंकि उनके पर्याय में एकत्वबुद्धि नहीं है, पर्याय जितना ही आत्मा को नहीं मानते।

समभाव की बात आते ही अज्ञानी का लक्ष्य पर के ऊपर जाता है, किन्तु समभाव कभी भी पराश्रय से नहीं होता। यहाँ तो पर्याय अपने पूर्ण स्वभाव में परिणमित हो गई और पर्यायबुद्धि छूट गई–वही समभाव है। भगवान आत्मा की प्रतीति करके उसके आश्रय से ही समभाव प्रगट हुआ, उसका कर्ता स्वतः आत्मा है, दूसरा कोई समभाव करानेवाला नहीं है। आत्मा को क्षणिक पर्याय जितना ही न मानकर आत्मा के त्रिकाली स्वभाव को मानना–उसे शास्त्र द्रव्यदृष्टि कहते हैं, वही समभाव है, और वही धर्म है। (अपूर्ण)

आत्मा का सुख-स्वभाव

[श्री प्रवचनसार गाथा ६७-६८ पर पूज्य श्री कानजी स्वामी के व्याख्यान का सार]

आत्मा स्वत: ही सुख परिणाम की शक्तिवाला है, इससे बाह्य के विषय उसका कुछ भी नहीं करते-ऐसा बतलाते हैं:—

''जो दृष्टि प्राणीनी तिमिरहर, तो कार्य छे नहि दीपथी;
ज्यां जीव स्वयं सुख परिणमे, विषयो करे छे शुं तहीं ? ॥६७॥''

अर्थ—यदि प्राणी की दृष्टि तिमिरहर हो (अर्थात् अन्धकार में देख सके-ऐसी आँख हो) तो दीपक से कुछ भी प्रयोजन नहीं है, अर्थात् दीपक कुछ नहीं करता, वैसे ही जहाँ आत्मा स्वयं सुखरूप परिणमित होता है, वहाँ विषय क्या करते हैं ?

जीव अपनी दशा से ही सुखरूप होता है। सामग्रियाँ उसे कुछ भी नहीं करतीं। यहाँ 'आनन्द अधिकार' होने से सुख की बात की है। सुख की भाँति दु:खरूप भी जीव की दशा होती है, उसमें प्रतिकूल सामग्री कुछ नहीं करती। जिस जीव की आँख की शक्ति ही अन्धकार का नाश करनेवाली है, उसे पदार्थों को जानने के लिये दीपक की आवश्यकता नहीं है, वह आँखों से ही देख सकता है। वैसे ही जो जीव स्वत: स्वभावोन्मुख होकर सुखी हुआ है, उसे किसी अन्य सामग्री की आवश्यकता नहीं है। जीव सुखरूप या दु:खरूप स्वतंत्रता से होता है। कोई मनुष्य छाती पर चढ़ बैठे और छुरा भोंक दे, उस समय भी सुखरूप या दु:खरूप परिणमन करने में जीव स्वतंत्र है। अनुकूल संयोग हों, तभी सुख होता है और प्रतिकूल संयोगों में दु:ख हो-ऐसा नहीं है। अनुकूल संयोग जीव को सुखी नहीं कर देते और प्रतिकूल संयोग दु:खी नहीं करते। जीव जब स्वत: स्वभाव में ज्ञानरूप परिणमित हो, उस समय बाह्य में भले ही प्रतिकूल संयोग हों, किन्तु कहीं वे जीव के सुख को नहीं रोकते।

सिद्ध भगवान स्वयं पूर्णज्ञान और सुखरूप परिणमित हो गये हैं, उन्हें सामग्री का क्या काम है ? वैसे ही केवलज्ञान और वीतरागभाव में परिणमित होकर अरिहंतदेव का आत्मा सुखरूप हुआ, वहाँ मुक्तिशीलादि सामग्री अथवा परमौदारिक शरीरादि अकिंचित्कर हैं। उसीप्रकार अज्ञान और रागभावरूप परिणमित होकर जीव स्वत: दु:खी होते हैं, रोग इत्यादि बाह्य प्रतिकूल सामग्री उसमें अकिंचित्कर हैं।

अज्ञानी जीव स्वतः पर में एकत्वबुद्धि के राग द्वारा विषयों में सुख की कल्पना करता है, उस कल्पित सुखरूप स्वतः ही परिणमित होता है और बाह्य की सामग्री में सुख का मिथ्या आरोप करता है। जीव ने बाह्य में सुख माना है, किन्तु उस मान्यता में भी परवस्तुएँ तो अकिंचित्कर ही हैं। वह जीव भले ही विषयों में सुख माने किन्तु वास्तव में तो विषयों के ओर की आकुलता से वह दुःखी ही है। अज्ञान और राग-द्वेषरूप परिणमन करके जीव स्वतः दुःखी होता है, प्रतिकूल सामग्री में व्यर्थ ही दुःख का आरोप करता है। यहाँ आचार्यदेव आत्मा के स्वाभाविक सुख का वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि आत्मा का यथार्थ सुख, समस्त बाह्य पदार्थों से निरपेक्ष है। अज्ञानी स्वतः सुखरूप परिणमित नहीं होते, इससे बाह्य वस्तुओं में सुख का आरोप करते हैं। आरोप का अर्थ है 'मिथ्या' अर्थात् पर में उसने जो सुख माना है, वह मिथ्या है, वह दुःख ही है। सिद्ध भगवान तो स्वयं ज्ञान और वीतरागतारूप परिणमित होकर सुखरूप हुए हैं, इससे उनके पारमार्थिक सुख है, और पारमार्थिक सुख होने से कहीं बाह्य में सुख का आरोप नहीं है। इसलिये सिद्ध भगवान की भाँति सभी जीवों को बाह्य पदार्थ, सुख के कारण नहीं हैं।

आत्मा का सुख किसी परवस्तु में नहीं है, किन्तु अज्ञानी ने इन्द्रियों के विषयों में सुख की कल्पना की है। बाह्य में सुख की जो कल्पना की है, उस कल्पना का साधन इन्द्रियाँ अथवा बाह्य पदार्थ नहीं हैं।

प्रश्न—अच्छे-अच्छे पदार्थों का उपभोग करने से प्रत्यक्ष आनन्द तो आता है ?

उत्तर—आत्मा के अतिरिक्त बाह्य के किसी भी पदार्थ के उपभोग की जो वृत्ति है, वह आकुलता है, दुःख है। इन्द्रियों के विषयों में किंचित् भी सुख नहीं है, किन्तु कल्पना से व्यर्थ अध्यास करके जीव स्वयमेव सुख की कल्पनारूप परिणमित होते हैं। जैसे विष्टा में सुख नहीं है किन्तु विष्टा का प्रेमी-गुबरीला उसमें सुख की कल्पना करता है, और स्वतः उस कल्पनारूप से परिणमित होता है, कहीं विष्टा उसे सुख का साधन नहीं होती। वैसे ही आत्मा के ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त किसी भी बाह्य विषय में या शुभाशुभभाव में सुख नहीं है, तथापि 'इसमें मेरा सुख है'—ऐसी दुर्बुद्धि के द्वारा अज्ञानी जीव, विषयों का संग करता है, किन्तु विषय उसको कुछ भी नहीं करते, वह स्वतः स्वयमेव सुख की कल्पनारूप परिणमित होता है। सिद्ध भगवान के इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषय नहीं हैं, स्वतः ही पूर्ण सुखमय हो गये हैं। आत्मा का स्वभाव ही सुख है, उस सुख में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है। लोकालोक के समस्त पदार्थ सिद्धभगवान के ज्ञान के

विषय हैं अर्थात् सिद्धभगवान समस्त लोकालोक को जानते हैं। उनके विषयों में सुख की कल्पना नहीं है, किन्तु उनका आत्मा स्वभाव से स्वयमेव सुखी हो गया है। इन्द्रियाँ हों, तभी सुख होता है-ऐसा नहीं है। सिद्धों को अपने सुख में परवस्तुएँ कारण नहीं हैं। ज्ञान में परवस्तुएँ ज्ञात हों तो वह कहीं दु:ख या सुख का साधन नहीं है। केवली भगवन्तों को अपने ज्ञान में नरक के दु:ख, निगोद के दु:ख और स्वर्ग के कल्पित सुख एवं अनन्त केवलियों के पारमार्थिक सुख-यह सभी ज्ञात होते हैं, किन्तु वे कोई पदार्थ उन्हें सुख-दु:ख का कारण नहीं हैं। स्वत: स्वयं पारमार्थिक सुखी हैं। अपने आत्मस्वभाव के सुख में किसी परविषय की अपेक्षा नहीं है, किन्तु अज्ञानी को उसका भान नहीं है इससे वह विषयों में सुख की कल्पना करके आकुलता से दु:खी होता है। उसे भी पर-विषय सुख के या दु:ख के साधन नहीं होते।

संसार में अथवा मुक्ति में आत्मा स्वत: सुख या दु:खरूप परिणमित होता है, विषय उसे कुछ नहीं करते। संसारी जीव को या मुक्त जीव को शरीर-इन्द्रियाँ अथवा लोकालोक के कोई भी पदार्थ सुख के साधन नहीं हैं। स्वभाव से ही स्वयमेव आत्मा सुखी होता है।

यहाँ आचार्यदेव आत्मा के सुखस्वभाव की पहिचान कराके विषयों के प्रति जो सुखबुद्धि है, उससे अज्ञानियों को छुड़ाते हैं। अज्ञानी, विषयों को सुख का साधन मानकर व्यर्थ ही उनका अवलम्बन लेते हैं और आकुलित होते हैं। यहाँ वैसे जीवों को विषयों की सुख-बुद्धि से छुड़ाकर स्वभाव की ओर उन्मुख करते हैं। अरे अज्ञानी! जिसप्रकार सिद्धभगवान किसी भी पर-विषय के बिना स्वभाव से ही सुखी हैं, वेसे ही तेरे आत्मा का सुख भी बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से रहित है। बाह्य में तुझे जो सुख लगता है, वह तो अपने राग के कारण तूने मात्र कल्पना की है। राग से रहित मात्र ज्ञान ही सुखरूप है। राग में सुख नहीं है और राग के विषयभूत पदार्थों में भी सुख नहीं है। अज्ञान से तूने पर में जो सुख माना है, उसमें भी तुझे बाह्य पदार्थ साधनरूप नहीं हैं, तो तेरे धर्म में अर्थात् स्वाभाविक सुख में तो कोई परवस्तु साधनरूप कैसे होगी? परवस्तु तो साधनरूप नहीं है, और परवस्तु के प्रति जो शुभ या अशुभराग होता है, वह भी तेरे धर्म में किंचित् साधनरूप नहीं है। समस्त परविषय और शुभाशुभभावों से भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव को समझकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन कर! वही तेरे धर्म का और पारमार्थिक सुख का साधन है। तेरे धर्म के लिये देव-गुरु-धर्म अथवा शरीर, पैसा, स्त्री आदिक कोई भी वस्तु साधन नहीं है-ऐसा जानकर हे जीव! तू अपने ज्ञानस्वभाव में ही सुख मान और विषयों में सुखबुद्धि छोड़। भाई! विषय तेरे सुख के साधन नहीं हैं।-६७-

अब श्री आचार्यदेव दृष्टान्त द्वारा यह बात दृढ़ करते हैं कि आत्मा का सुख, स्वभाव से ही होता है—

''जयम आभमां स्वयमेव भास्कर उष्ण, देव, प्रकाश छे;
स्वयमेव लोके सिद्ध पण त्यम ज्ञान, सुख ने देव छे।''

अर्थ—जिसप्रकार आकाश में सूर्य स्वयमेव-तेज, उष्ण और देव है, वैसे ही लोक में सिद्धभगवान भी स्वयमेव ज्ञान, सुख और देव हैं।

यहाँ श्री सिद्धभगवान को स्वयमेव ज्ञान और सुखरूप बताकर आचार्यदेव ऐसा समझाते हैं कि जैसे सिद्ध भगवान स्वत: ही ज्ञान और सुख हैं, वैसे ही जगत के समस्त आत्माओं का ज्ञान और सुख अपने स्वभाव से ही है। जीव का ज्ञान और सुख किसी अन्य वस्तु से (अर्थात् विषयों से) नहीं है। इसलिये आत्मा को ऐसे अकिंचित्कर विषयों से बस हो! विषयों से आत्मा को सुख है-ऐसी मिथ्यामान्यता का नाश करो, और ज्ञान एवं सुखमय आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके उसी का अवलम्बन लो। यही सच्चे सुख का उपाय है।

आत्मा को अपने स्वभाव से ही ज्ञान और सुख है, उसमें किसी भी अन्य पदार्थों का अवलम्बन नहीं है-ऐसा यहाँ सूर्य का दृष्टांत देकर समझाया है। सूर्य स्वयं स्वत: से ही उष्ण है, सूर्य को उष्णता के लिये अग्नि, कोयला इत्यादि किन्हीं भी अन्य साधनों की आवश्यकता नहीं है, तथा सूर्य स्वत: प्रकाशरूप है, अपने प्रकाश के लिये उसे किसी इलेक्ट्रीसिटी अथवा तेल आदि की आवश्यकता नहीं है, और सूर्य स्वत: ज्योतिषदेव है, वैसे ही सिद्ध भगवान का आत्मा स्वत: ही ज्ञानस्वरूप है, स्वत: ही निराकुल सुखस्वरूप है और अनन्त दिव्यशक्तिवाला होने से स्वत: ही देव है।

जिसप्रकार आकाश में अन्य किसी भी कारण की अपेक्षा रखे बिना सूर्य स्वत: ही पुष्कल प्रभासमूह के द्वारा विकसित प्रकाशवाला है, इससे वह स्वत: ही प्रकाश है। उसीप्रकार लोक में भगवान आत्मा भी किसी भिन्न कारण की अपेक्षा रखे बिना स्वत: ही ज्ञान है। आत्मा का ज्ञान स्व-पर को प्रकाशित करने के लिये किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता। जैसे सिद्धभगवान स्वयमेव केवलज्ञानरूप हैं, उन्हें ज्ञान के लिये किसी भिन्न कारण की अपेक्षा ही नहीं है, वैसे ही समस्त आत्माओं का ज्ञान किसी भिन्न कारण की अपेक्षा रखे बिना स्वत: से ही होता है। मति-श्रुतज्ञान को भी इन्द्रियाँ, शरीर, प्रकाश अथवा राग इत्यादि किसी भिन्न कारण की आवश्यकता नहीं

है। अपूर्ण ज्ञान के समय वे इन्द्रियादि भले ही उपस्थित हों, किन्तु ज्ञान उनसे जानता नहीं है। इसप्रकार भगवान आत्मा स्वयमेव ज्ञान है। स्व-पर को प्रकाशित करने में समर्थ ऐसी यथार्थ अनन्तशक्तियुक्त सहज स्वसंवेदन के साथ एकमेक होने से आत्मा स्वतः ही ज्ञान है। आत्मा की शक्ति सहज है। आत्मा जिस ज्ञानरूप परिणमित हुआ, वह ज्ञानशक्ति सहज स्वतः से ही है; उसे किसी अन्य कारण की आवश्यकता नहीं है। आत्मा की ज्ञान के साथ एकता है, किन्तु जो लोकालोक ज्ञान में ज्ञात होते हैं, उनके साथ आत्मा की एकता नहीं है। परपदार्थ एवं रागादिभावों के साथ आत्मा की एकता नहीं है किन्तु भिन्नता है। इससे आत्मा का ज्ञान, इन्द्रियों या रागादि से नहीं होता, किन्तु आत्मा स्वतः ही सहज ज्ञानस्वभाव में परिणमित होकर सबको जानता है। आत्मा का ज्ञान के साथ ही एकत्व होने से आत्मा स्वयमेव ज्ञान है। इसप्रकार, जैसे सूर्य अपनी स्वभावशक्ति से स्वयमेव प्रकाशमान है, वैसे ही आत्मा अपनी स्व-परप्रकाशक सहजशक्ति के साथ एकमेक होने से स्वतः ही ज्ञान है-इसप्रकार एक बात को सिद्ध किया।

अब यह बतलाते हैं कि-आत्मा ही स्वतः स्वभाव से सुख है। जैसे लोहे का गोला किसीसमय अग्नि का निमित्त पाकर उष्ण होता है, किन्तु सूर्य तो किसी के निमित्त के बिना अपने स्वभाव से ही सदैव स्वयमेव उष्णतारूप ही परिणमित है; वैसे ही यह भगवान आत्मा किसी भी निमित्त की अपेक्षा रखे बिना अपने स्वरूप से ही, आत्मतृप्ति से प्रगट होनेवाला जो सम्पूर्ण अनाकुल सुख है, उसमें सुस्थित होने के कारण, सुख है। आत्मा का यथार्थ सुख अपने स्वरूप में तृप्ति से ही है, किसी परद्रव्य के उपभोग से आत्मतृप्ति नहीं होती और सुख नहीं होता। जिन्हें अपनी आत्मतृप्ति नहीं है, वे जीव विषयों से तृप्ति करना मानते हैं और विषयों की आकुलता से दुःखी होते हैं। आत्मतृप्ति से परिनिवृत्ति प्रगट होती है, अर्थात् विषयों से पराङ्मुख होकर आत्मस्वरूप में स्थिरता करने से सम्पूर्ण मोक्षसुख प्रगट होता है, वह सम्पूर्ण आकुलतारहित है। सम्यग्दृष्टि जीवों को आत्मा के स्वयमेव सुखस्वभाव का भान होता है और अंशतः वैसे सुख का अनुभव भी होता है। साधक धर्मात्मा को अपने पूर्ण निवृत्तस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान और अनुभव होता है, किन्तु अभी परिनिवृत्ति नहीं है क्योंकि पूर्ण स्वरूपस्थिरता नहीं है। सिद्धभगवन्तों के अपने निवृत्त आत्मस्वरूप में सम्पूर्ण स्थिरता द्वारा सुख की परिपूर्णता हुई है, उससे जो सम्पूर्ण अनाकुलता प्रवर्तमान है, उसमें वह आत्मा स्वतः ही तन्मय है, इससे आत्मा स्वतः ही सुख है।

अज्ञानी जीव, विषयों में सुखबुद्धि के कारण विषयों में ही स्थित हैं अर्थात् वे पर को भोगने

की आकुलता में ही स्थित हैं। ज्ञानी जीव तो आत्मतृप्ति से पैदा होनेवाला जो विषयातीत सुख है-उसी में सुस्थित हैं। निरन्तर ऐसे के ऐसे अनाकुलता में ही स्थित होने से सिद्धभगवान स्वतः ही सुख हैं। जो स्वतः ही सुख हैं, उसे सुख के लिये अन्य किसकी आवश्यकता होगी? 'सिद्धदशा में शरीर नहीं, कुटुम्ब नहीं, स्त्री नहीं, पैसा नहीं, बाग-बगीचा, खाना-पीना, रागादि नहीं, एक आत्मस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। वह आत्मस्वभाव से ही सुखी हैं' ऐसा सुनकर जो जीव कहता है कि-बस, मात्र आत्मा में ही सुख! अकेला आत्मा ही अधर लटकता रहे, उसमें क्या सुख? अच्छी-अच्छी वस्तुओं का उपभोग किये बिना किसप्रकार आत्मा को सुख होता है? ऐसा कहनेवाले जीव ने आत्मा को स्वीकार ही नहीं किया है। उसे आत्मा के सुखस्वभाव का विश्वास नहीं है, किन्तु इन्द्रियविषयों में सुख का विश्वास है। आत्मा का अपना स्वभाव ही सुख है, और आत्मा स्वतः सुखरूप होता है-इसकी मूढ़-अज्ञानी को खबर नहीं है, इसलिये वह पर-संयोग को देखता है। जिसने एक भी पर-विषय में सुख माना है, उस जीव को अनन्त पर-विषयों में आसक्ति है। अज्ञानी जीव के भी संयोग के कारण सुख की कल्पना नहीं है-यह बात प्रथम ही सिद्ध की है। अज्ञानी स्वतः ही मिथ्या कल्पना से पर में सुख मानकर उस कल्पनारूप परिणमित होता है, किन्तु कहीं वह यथार्थ सुखरूप परिणमित नहीं होता, और विषय उसे सुख के कारण नहीं होते। जो कल्पनारूप सुख है, वह स्थायी नहीं है, एक ज्ञेय पदार्थ का लक्ष छूटकर दूसरे ज्ञेय पदार्थ पर लक्ष जाने से वह सुख की कल्पना बदल जाती है। अज्ञानी भिन्न-भिन्न विषयों का लक्ष्य करके उनमें सुख की कल्पना करते हैं, वास्तव में तो वे वर्तमान में ही अत्यन्त दुःखी हैं। यदि दुःखी न हों तो उनका उपयोग विषयों में क्यों भ्रमण करे? विषयों को ग्रहण करने की आकुलता का दुःख उनके एक ही प्रकार का है, मात्र विषय बदलते रहते हैं। ज्ञानीजन प्रथम तो-आत्मा का स्वभाव ही सुख है, और किसी भी परपदाथ में सुख नहीं है-ऐसा भेदज्ञान द्वारा जानकर, आत्मस्वभाव में पूर्ण स्थिरता प्रगट करके आत्मा से ही स्वयं सुखरूप होते हैं। वहाँ सुख की कल्पना नहीं है किन्तु आत्मा स्वतः स्वभाव से ही साक्षात् सुखरूप परिणमित हो गया है। आत्मा के सुख में कोई भी परपदार्थ कुछ भी नहीं करते। इसप्रकार सूर्य की उष्णता की भाँति आत्मा स्वतः ही सुख है।२।

इसप्रकार आत्मा स्वयमेव ज्ञान है और स्वयमेव सुख है-यह दो बातें समझाई हैं। अब, कहते हैं कि जैसे आकाश में किसी अन्य कारण की अपेक्षा रखे बिना, सूर्य स्वयं ही देवगतिनामकर्म का जो धारावाही उदय है, उसके वशवर्ती स्वभाव के द्वारा देव है; वैसे ही भगवान

आत्मा भी अन्य किसी भी कारण की अपेक्षा रखे बिना स्वयमेव दिव्य आत्मस्वरूपवाला होने से देव है। जैसे सिद्धभगवान देव हैं, वैसे ही समस्त आत्मा दिव्यस्वरूपवाले होने के कारण स्वयमेव देव हैं।

भगवान आत्मा देव है। दिव्य आत्मस्वरूप का देवरूप में कौन स्तवन करता है ? जिनके आत्मतत्त्व की उपलब्धि निकट है–ऐसे बुधजनों के मनरूपी शिलास्तम्भ में दिव्य आत्मस्वरूप की अतिशय द्युति की स्तुति अंकित है।

आत्मा स्वत:–स्वयमेव देव है। अज्ञानी जीवों को आत्मस्वरूप की दिव्यता प्रतिभासित नहीं होती, इससे उनके हृदय में दिव्य आत्मस्वरूप युक्त देव की स्तुति नहीं होती। वे तो अज्ञान से विषयों में सुख मानकर मिथ्यात्व का स्तवन करते हैं। जिनके आत्मस्वरूप की दिव्यता की श्रद्धा–ज्ञान और अनुभव हुआ है, और अपनी केवलज्ञानदशा जिनके बिल्कुल निकट है–ऐसे महान संत मुनिवर, गणधर इत्यादि समस्त साधक जीवों के हृदय में शुद्ध सिद्धात्मा समान देव समाये हैं, और उन जीवों के हृदय में उनकी स्तुति निरन्तर प्रवर्तमान है। जैसे पत्थर के खम्भे में सिद्धभगवान की मूर्ति अंकित की गई हो, वैसे ही साधक जीवों के श्रद्धा–ज्ञानरूपी शिलास्तम्भ में आत्मा के सिद्धस्वरूप की दिव्यता की स्तुति अंकित है। यहाँ पर आचार्यदेव यह बतलाते हैं कि साधक जीवों के अन्तर में अपने आत्मस्वरूप का ही आदर है, अन्य किसी का आदर नहीं होता। ज्ञानीजनों को आत्मा का अतीन्द्रिय सुख अनुभव में आ गया है, और अपना आत्मा सिद्धभगवान जैसा ही दिव्यस्वरूपी है–उसकी श्रद्धा–ज्ञान–अनुभव हुआ है, इससे उनके ज्ञानरूपी शिलास्तम्भ में अपने आत्मस्वरूप की दिव्यता की ही महिमा अंकित हो गई है कि अहो! आत्मस्वरूप की दिव्यता! किसी भी पदार्थ की अपेक्षा के बिना स्वत: अपने से ही परिपूर्ण ज्ञान और सुखवाला है। मैं ही स्वयमेव ज्ञान–सुख और देव हूँ, मेरे ज्ञान और सुख के लिये किसी भी अन्य द्रव्य की सहायता नहीं है। पहले अज्ञान से दिव्य आत्मस्वरूप को भूलकर बाह्य विषयों में सुख की कल्पना की थी, किन्तु जब ज्ञानी–सन्तों के पास से ऐसा सुना कि इन्द्रियों के विषय से रहित आत्मा को ज्ञानपरिणमन से सम्पूर्ण सुख होता है'; और अपने ऐसे आत्मस्वभाव की श्रद्धा–ज्ञान–अनुभव होकर विषयों में से सुखबुद्धि दूर हो गई, तब से धर्मात्मा के हृदयरूपी शिलास्तम्भ में दिव्य सिद्धस्वरूप की स्तुति अंकित हो गई है। पहले विषयों में एकत्वबुद्धि थी, उसके बदले अब हृदयस्तम्भ में अपने भगवान आत्मा के दिव्यस्वरूप की स्तुति अंकित हो गई है। जैसे पत्थर के खम्भे में खुदी हुई मूर्ति निकलती

नहीं है; वैसे ही धर्मात्मा जीवों के श्रद्धा-ज्ञानरूपी स्तम्भ में आत्मस्वरूप की जो स्तुति अंकित हो गई है, वह कभी निकल नहीं सकती, अर्थात् आत्मस्वरूप का जो श्रद्धा-ज्ञान किया, वह कभी मिट नहीं सकता; श्रद्धा-ज्ञान अप्रतिहतरूप से स्थिर होकर अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त हो-ऐसे भाव आचार्यदेव के कथन में भरे हुए हैं।

निर्लेप सर्वज्ञ सुखस्वभाव का माहात्म्य तो ज्ञानियों को ही होता है। अज्ञानियों के पुण्य-पाप का अथवा शरीरादि बाह्य पदार्थों का माहात्म्य होता है किन्तु अन्तरंग शुद्धात्मस्वभाव का माहात्म्य नहीं आता। जिनके कुछ भी व्रत, तप नहीं हैं-ऐसे सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा से लेकर श्री तीर्थंकर प्रभु के धर्म-मंत्री-उसी भव में मोक्षगामी श्री गणधरदेव पर्यन्त समस्त साधक जीवों के ज्ञान में सिद्धस्वरूप की स्तुति अंकित हो गई है। जिन्हें अल्पकाल में सिद्ध होना है-ऐसे साधक जीव ही सिद्धभगवान को पहिचानकर उनकी स्तुति करते हैं। अपना जो दिव्य आत्मस्वरूप है, वही वास्तव में सिद्ध, देव है। ऐसे अपने सिद्धस्वरूप की दिव्यशक्ति का माहात्म्य ज्ञानी-धर्मात्माओं के हृदयपट पर अंकित हो जाने से उनके अपना आत्मा ही स्वतः देव है। सिद्ध भगवान अर्थात् आत्मा का सम्पूर्ण शुद्धस्वरूप, सो ज्ञानियों का देव है। अज्ञानी का देव तो पुण्य और उसके फलरूप बाह्य विषय हैं क्योंकि उसे शुद्धात्मा की रुचि नहीं, किन्तु विषयों में सुखबुद्धि है-इससे उसे पुण्य की और उसके फल की महिमा प्रतिभासित होती है; आत्मा की दिव्यता की महिमा भासित नहीं होती। ज्ञानी के किसी भी बाह्यविषय की महिमा नहीं है, उनके साधकदशा में शुभपरिणाम होने पर भी उनकी तुच्छता भासित होती है और अपने चैतन्यस्वभाव की ही महिमा होती है।

जैसे बालक के अन्तर में अपनी माता की रटन होती है। माता से बिछुड़ा हुआ बालक रोता हो, उससमय उसे कोई खिलौने या अच्छे से अच्छा खाने को दे, किन्तु उसे सन्तोष नहीं होगा। बस, 'मेरी माँ, मेरी माँ' ही पुकारता है। वैसे ही जो अल्पकाल में केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं-ऐसे धर्मात्मा जीवों के अन्तर में 'मेरे सिद्धभगवान, मेरी सिद्धदशा'—ऐसी ही रटन हो रही है। अपने स्वभाव के अतिरिक्त उन्हें किसी भी भाव से सन्तोष नहीं होता। अहो! पूर्णस्वभाव सुख का विरह, सो निर्बलता है; निर्बलता में यदि तीर्थंकरनामकर्म का पुण्य हो तो उसकी भी ज्ञानी को प्रीति नहीं है। स्वरूप की पूर्णानन्ददशा की तीव्र रटन और महिमा है। पर्याय में अल्प राग या द्वेष का भाव हो जाये तो उससे अपने दिव्यस्वरूप का घात हो जायेगा-ऐसी शंका ज्ञानी कभी नहीं करते, किन्तु अपने हृदय में सिद्ध की स्थापना की है, उनकी स्तुति के बल से वे राग-द्वेष को नष्ट कर देते हैं।

लोगों में ऐसी बात प्रचलित है कि श्री हनुमानजी ने छाती को चीरा तो अन्दर से झंकार उठी कि 'श्री राम.... श्री राम...!' वैसे ही धर्मात्मा के अन्तर में पर्याय-पर्याय में झंकार उठती है कि 'सिद्धभगवान, सिद्धभगवान!' मोहरूपी पट तो चीरकर अन्तरंग में शुद्ध आत्मा-राम की झंकार उठती है। निरंतर परिपूर्ण सुख और ज्ञानमय दिव्यशक्तियुक्त अपना सिद्धस्वभाव धर्मात्मा के हृदय में अंकित हो गया है। सिद्धसमान त्रिकाली पूर्णस्वभाव के अतिरिक्त अन्य किन्हीं भी भावों की झनकार धर्मी के हृदय में नहीं है, अर्थात् पर्याय के ऊपर दृष्टि ही नहीं है। धर्मात्मा के हृदय में अपूर्ण पर्याय को स्थान ही नहीं है। उनके हृदय में तो एकमात्र चैतन्यमय सिद्धबिम्ब ही विराजमान है। ज्ञानी तो सिद्धदशा की प्राप्ति के लिये ही उत्साहित हैं, सिद्धदशा को प्राप्त करने के उत्साह में बीच में अन्य किसी भाव की महिमा को नहीं आने देते। मात्र सिद्धदशा का ही आदर है। सिद्ध के अतिरिक्त दूसरी कोई बात नहीं है। साधकदशा में चाहे जैसा उच्च पुण्यभाव आये, उसकी स्तुति ज्ञानी कदापि नहीं करते। यह भगवान आत्मा स्वतः दिव्य आत्मशक्तिवाला है, और उसकी दिव्यता की स्तुति ज्ञानियों के हृदय में अंकित हो चुकी है, इससे आत्मा स्वतः स्वयमेव देव है, उसमें किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं है।३।

सिद्धदशा में शरीर और रागादि से भिन्न-ऐसा यह आत्मतत्त्व स्वतः ही ज्ञान है, स्वतः ही सुख है और स्वतः दिव्यशक्तिवाला देव है। स्वयमेव ज्ञान, सुख और देवरूप हुए उस आत्मतत्त्व को अपने ज्ञान, सुख और दिव्यता के लिये किसी अन्य कारण की आवश्यकता नहीं है। पुण्य की, संयोग की, और शरीर की भी आवश्यकता नहीं है। जो ऐसे सिद्ध को पहिचाने, वह जीव अपने आत्मा को भी वैसे ज्ञान, सुख और दिव्यशक्तिमय स्वरूप देखे। वैसे सम्यग्दृष्टि जीव के हृदय में सिद्ध की स्तुति अंकित हो गई है। किसी पुण्य की अथवा स्त्री आदिक संयोग की स्तुति को किंचित् भी अवकाश नहीं है। एकमात्र सिद्धरूप के अतिरिक्त अन्य किसी भी भाव को ज्ञानी उपादेय नहीं समझते। अहो! ज्ञानियों के अन्तर में सम्यक्श्रद्धा-ज्ञानरूपी खम्भे में जिसकी अतिशय भव्यता की स्तुति अंकित है-ऐसा यह भगवान आत्मा स्वतः ही दिव्यशक्तिस्वरूप देव है, इसके माहात्म्य के कारण ज्ञानियों के पुण्यादि का माहात्म्य सहज ही दूर हो गया है, और विषयों में सुख की मान्यता ज्ञानियों को स्वप्न में भी नहीं होती।

धर्मात्मा के अन्तःकरण में सिद्धभगवान की दिव्यता की स्तुति निरन्तर अंकित है, धर्मात्मा जीव कभी संसारी जीव के पुण्य की या पुण्य के फल की प्रशंसा अन्तर से नहीं करते। ज्ञानमूर्ति

परमानन्द सिद्धदशा ही मुझे आदरणीय है; जो पुण्यभाव हो, वह मुझे आदरणीय नहीं है, तब फिर पापभाव तो आदरणीय होगा ही कहाँ से ? महान देव और इन्द्र आकर भी यदि धर्मी जीव की सेवा करें तो भी धर्मात्मा जीव उससे अपनी महिमा नहीं मानते, इन्द्र पदवी की प्रशंसा नहीं करते। उनके अंतर में तो सिद्धत्व अंकित हो गया है कि-मैं सिद्ध हूँ, मेरे और सिद्ध के स्वरूप में अन्तर नहीं है। अहो! ''सिद्धसमान सदा पद मेरा'' मेरा पद त्रिकाल सिद्धसमान ही है। सिद्धदशा के अतिरिक्त अन्य कोई भाव मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो सिद्धभगवान का नन्दन हूँ; मैं किसी संसारी पिता का पुत्र नहीं हूँ, किन्तु परमपित सिद्धभगवान का पुत्र हूँ।

जैसे लौकिक में पतिव्रता स्त्री के हृदय में एक ही पति को स्थान है, और जिसका जीवन सट्टेमय है-ऐसे सटोरिये को स्वप्न भी सट्टे के आते हैं, वैसे ही धर्मात्मा के हृदय में एक सिद्धभगवान के अतिरिक्त अन्य किसी को स्थान नहीं है, अपने परिपूर्ण शुद्धात्मस्वरूप की ही उसे प्रीति-रुचि है, स्वप्न में भी उसे सिद्धत्व ही दिखाई देता है, सिद्धदशा के स्वप्न आते हैं, 'मैं सिद्ध हूँ' ऐसी भनक उठती है, बातें भी बारबार सिद्धदशा की रुचि पूर्व करता है—ऐसे धर्मात्मा ज्ञानी आत्मस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कहीं भी सुख नहीं मानते; विषयों की अपेक्षा से रहित स्वाभाविक सुख का वे अनुभव करते हैं। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि यदि आत्मा को अपने स्वभाव से ही सुख है एवं विषयों से सुख नहीं है तो फिर ऐसे निरर्थक विषयों के अवलंबन को छोड़ दो!

हे जीवो! अन्य किन्हीं भी कारणों की अपेक्षा रखे बिना यह आत्मा स्वतः ही ज्ञान, सुख और देव है, इसलिये ऐसे आत्मा का ही सेवन करो, और सुख-साधनाभास ऐसे विषयों से अब बस करो!

बाह्य पदार्थों में सुख तो है नहीं किन्तु अज्ञानी को उनमें सुख का मिथ्या आभास होता है। बाह्य पदार्थ सुख के आभासमात्र हैं, अर्थात् बाह्य पदार्थ वास्तव में आत्मा के सुख का साधन नहीं हैं तथापि अज्ञानी जीवों को उनमें सुख के साधन की मिथ्याकल्पना हुई है। किन्तु जैसे मृगजल वास्तव में पानी नहीं किन्तु पानी का आभासमात्र है, और उसे पानी समझकर तृषा शान्त करने के लिये उसकी ओर दौड़नेवाले मृग को वह तृषा के बढ़ने का ही कारण है, वैसे ही इस आत्मा को बाह्य-विषय शान्ति का साधन नहीं हैं किन्तु अज्ञानी जीवों को शान्ति का आभासमात्र है! परविषय आभासमात्र सुख के साधन दूर से ही (अज्ञानभाव से ही) दिखाई देते हैं, किन्तु वास्तव में वे दुःख के ही निमित्त हैं। विषयों को सुख का साधन मानकर उनके द्वारा अपनी आकुलता मिटाने के लिये

जो जीव आत्मस्वभाव से च्युत होकर पर-विषयों की ओर अपने उपयोग को दौड़ते हैं, उन जीवों को मात्र आकुलतारूप दु:ख ही होता है। इसलिये ऐसे इन्द्रिय-विषयों से बस करो, बस करो!

हे जगत के भव्य जीवो! आत्मस्वभाव को ही सुख का कारणरूप जानकर, विषयों में अनादि से जो सुख की रुचि की है, उसे बदल दो; आत्मा के अतीन्द्रियसुख की रुचि करो, यह आचार्य प्रभु के कथन का प्रयोजन है। सम्यग्दृष्टि जीव ने आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का स्वाद लिया है, वह गृहस्थदशा में हो, तब भी अन्तर में योगी समान है, समस्त विश्व के सभी पदार्थों में से उसे सुखबुद्धि उड़ गई है, एकमात्र आत्मस्वरूप के सुख के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी उसकी रुचि नहीं हो सकती, ऐसी आत्मदशा प्रगट हो, उसी का नाम धर्म है और अल्पकाल में ही सम्पूर्ण सुख प्रगट होने का वह साधन है। हे आत्मा! कहीं बाह्य पदार्थों में तेरे सुख का भण्डार नहीं भरा है, तेरा आत्मा स्वत: ही सुख का भण्डार है। अपने आत्मा को छोड़कर बाह्य पदार्थों में सुख के लिये व्यर्थ प्रयत्न करना तो आकुलता है-दु:ख है। अपने आत्मा को पहिचानकर उसमें एकमेक हो तो अपने पूर्णसुख का प्रगट अनुभव हो जाये।

जैसे बालक खेलकूद रहा हो, तब भी थोड़ी-थोड़ी देर में अपनी माता के पास जाकर उसका मुँह देख आता है; वैसे ही धर्मात्मा साधक जीव यदि गृहस्थदशा में हो और बाह्य में व्यापार या राज्यादि के कार्य हों, किन्तु किसी भी संयोग की या राग की प्रीति धर्मात्मा के नहीं है, उन सबको लक्ष में से हटाकर बारबार अपने परमानन्दमय स्वभाव में स्थिर होने का प्रयत्न करता है। स्वभाव का ही आदर और जो राग रह जाये, उसका निषेध करते-करते धर्मात्मा जीव साधकदशा में आगे बढ़ता रहता है, और अन्त में स्वभाव की एकाग्रता के बल से सम्पूर्ण रागादि का अभाव करके स्वत: पूर्ण सुखी-सिद्ध हो जाता है।

सिद्धभगवान किसी बाह्य कारण की अपेक्षा के बिना अपनेआप ही स्वपरप्रकाशक ज्ञानरूप हैं, अनन्त आत्मिक आनन्दरूप हैं और अचिंत्य दिव्यतारूप हैं। सिद्धभगवान जैसा ही जीवों का स्वभाव है। इससे हे सुखार्थी जीवों! विषयालम्बी भाव छोड़कर निरावलम्बी परमानन्द स्वभावरूप परिणमन करो।

सिद्धभगवान जैसा ही समस्त आत्माओं का स्वभाव है। सिद्धभगवान किसी भी परविषय के बिना स्वभाव से ही सम्पूर्ण सुखी हैं। यहाँ श्री सिद्धभगवन्तों को आदर्शरूप रखकर आचार्यदेव भव्यजीवों को संबोधन करते हैं कि:—

हे जगत के सुखार्थी जीवो ! विषयों से आत्मा को सुख नहीं मिलता, किन्तु अपने स्वभाव से ही आत्मा को सुख है–ऐसा बराबर समझो और विषयालम्बी सुखबुद्धि छोड़कर आत्मा की रुचि करके आत्मा के निरावलम्बी परमानन्दमय स्वाधीन सुखरूप परिणमित हो जाओ। मात्र निज चैतन्यमयस्वरूप का अवलम्बन करनेवाला भाव ही सच्चा सुख है, उसमें आकुलता नहीं है। इसके अतिरिक्त जगत के समस्त पदार्थों का अवलम्बन करनेवाला भाव दु:ख ही है। शरीर–पैसा–स्त्री आदि का अवलम्बीभाव अथवा देव–गुरु–शास्त्र का अवलम्बी भाव हो, वह भाव स्वत: पराधीन और दु:खरूप है, विषयालम्बी किसी भाव में सुख नहीं है। दिव्यध्वनि को श्रवण करने का भाव भी विषयालम्बीभाव है और उसमें भी आकुलता है, इसलिये सर्व विषयों से भिन्न एवं विषयालम्बीभावों से भी भिन्न–ऐसे अपने स्वयमेव ज्ञान और सुखरूप आत्मतत्व को पहिचानकर स्वावलम्बी भाव द्वारा आत्मा के यथार्थ सुख को प्राप्त करो ! एकमात्र अपना आत्मा ही सुख का साधन है, इसलिये आत्मा की पहिचान करके श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र के द्वारा उसी का अवलम्बन करो। वही धर्म है और वही आत्मा के पारमार्थिक सुख का उपाय है।

ग्राहकों से निवेदन—

इस अंक से आत्मधर्म का चौथा वर्ष पूर्ण होता है, तथा इसके साथ ही आपका वार्षिक चन्दा समाप्त हो रहा है। यदि आगामी वर्ष विशेषांक सहित प्रत्येक अंक यथासमय प्राप्त करना चाहते हों तो पाँचवें वर्ष के लिये ३ /– मनिआर्डर से भेज दीजिये। यहाँ पोस्ट ऑफिस की व्यवस्था समुचित न होने से वी.पी. करने में अधिक समय हो जाता है। अत: शीघ्र ही वार्षिक चन्दा भेजें।

—प्रकाशक

सौराष्ट्र में पूज्य श्री कानजी स्वामी का विहार और महान धर्म-प्रभावना

श्री जैनशासन जयंवत हो! जिनके प्रताप से जैनशासन का जयकार हो रहा है ऐसे श्री कानजी स्वामी जयवन्त हों। वींछिया नगर में श्री चन्द्रप्रभस्वामी आदि जिनेन्द्र प्रतिमाओं के पंचकल्याणक महोत्सव के महामंगल प्रसंग पर उपस्थित होने के लिये पूज्य श्री कानजी स्वामी ने माघ सुदी ९ सोमवार के दिन सोनगढ़ से विहार किया। भक्तजनों ने विहार महोत्सव करके सद्धर्म प्रभावना के इस मंगल प्रसंग को दीप्त किया था।

माघ सुदी ९ वीं के दिन धारूका ग्राम में रुककर माघ सुदी १० वीं के दिन उमराला ग्राम में प्रवेश किया। उमराला श्री स्वामीजी की जन्मभूमि है। समस्त ग्रामजनों ने अत्यन्त उल्लासपूर्वक स्वागत किया। प्रातः स्वामीजी ने मांगलिक सुनाकर उनके अर्थ किये और दोपहर को ३ से ४ बजे तक व्याख्यान किया। सारे ग्रामवासियों ने रुचिपूर्वक व्याख्यान का लाभ लिया था।

माघ सुदी ११ के दिन प्रातः ९ से १० बजे तक जन्मस्थान में भक्ति थी, वहाँ स्वामीजी गाजे-बाजे के साथ पधारे। जन्मस्थान पर भक्ति देखने के लिये सारे ग्रामजन आ पहुँचे थे। वहाँ अत्यन्त उल्लासपूर्वक भक्ति और स्तवन पढ़े गये थे, इससमय की भक्ति का दृश्य अनुपम था। ग्राम के प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने भी अपने भक्ति-भाव को व्यक्त किया था।

उसके पश्चात् पूज्य श्री कानजी स्वामी के जन्म से पावन हुए उस गृह का उद्धार करने के लिये और उसे एक पवित्र जन्मभूमि स्थान के रूप में बनाने के लिये उमराला और पालेज के भाइयों की ओर से लगभग सात हजार रुपये एकत्रित हुए थे।

प्रतिदिन दोपहर को ३ से ४ बजे तक पद्मनन्दि शास्त्र पर व्याख्यान होता था और रात्रि को तत्त्वचर्चा होती थी।

माघ सुदी १२ के दिन प्रातः ९ से १० तक समयसार के कलश की स्वाध्याय हुई थी। उसीसमय ९.०० बजे उमराला के सेठ श्री जीवालालभाई और फूलचन्दभाई ने धर्मपत्नियोंसहित स्वामीजी के निकट ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ली थी। इस प्रसंग पर स्वामीजी ने कहा था :—'यथार्थ ब्रह्मचर्य तो आत्मा में है, ब्रह्मानन्द चिदानन्द आत्मा का भान करके उसमें रमणता करना ही ब्रह्मचर्य है।' 'ब्रह्मस्वरूप आत्मा में विचरना ही ब्रह्मचर्य है' उसी में सुख है। विषयभोग तो

अनन्तबार भोगे हैं, किन्तु उनसे रहित आत्मा में सुख है, उसे कभी नहीं जाना। विषयों में सुखबुद्धि छोड़कर आत्म-प्रतीति करना चाहिये।

स्वाध्याय में जब ३२ वां (मज्जंतु.....) कलश आया, तब उन्होंने कहा कि —आचार्यदेव ने सबको सपरिवार निमंत्रण दिया है कि—'आओ, आत्मा आनन्दकन्द है, इसमें सभी जीव स्थिर हो जाओ, डूब जाओ; इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी सार नहीं है।' आगे ३४ वें कलश में पुद्गल से भिन्न आत्मा का छह महीने अभ्यास करने का कथन आया, तब कहा कि जैसे-कुल्हाड़ी से कपड़े नहीं धोये जा सकते किन्तु फट जाते हैं, वैसे ही आत्मा की यथार्थ प्रतीति के बिना धर्म नहीं हो सकता, किन्तु अधर्म होता है। आत्मा की यथार्थ प्रतीति किये बिना बाह्य की-शरीरादि की क्रिया से धर्म माना, किन्तु आत्मा को नहीं जाना तो धर्म कहाँ से हो ?

माघ सुदी १० से १३ तक चार दिन उमराला में रहकर माघ सुदी १४ के दिन वहाँ से दडवा होकर उज्जलबाव ग्राम पधारे। स्वामीजी के आने की खुशी में वहाँ के किसानों ने अपना कार्य (जोतना-बोना) बन्द रखा था।

माघ सुदी १५ के दिन उज्जलबाव से विहार करके लाखणका ग्राम आये। यहाँ पर ग्रामजनों में तीव्र उत्साह था, यहाँ के जमींदारों तथा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने अपार प्रेम और भक्ति दर्शायी थी। ग्राम को बन्दनवार पताकाओं आदि से सजाया था और किसानों ने अपने हल आदि चलाना बन्द रखा था। दोपहर को ३ से ४ तक व्याख्यान था, उससमय ग्रामजन उत्साहसहित अच्छी संख्या में उपस्थित हुए थे।

माघ वदी १ के दिन लाखणका से गढडा की ओर विहार किया। बीच में अडताला ग्राम आता है, वहाँ के लोगों की दर्शन करने की आकांक्षा होने से स्वामीजी ग्राम में पधारे और वहाँ मांगलिक सुनाकर गढडा की ओर प्रस्थान किया।

गढडा में मुमुक्षुमण्डल ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक स्वागत-सम्मान किया। प्रातः स्वामीजी ने मांगलिक सुनाकर उसका अर्थ किया था। दोपहर को ३ से ४ तक व्याख्यान हुआ था। व्याख्यान सुनने के लिये ग्रामजनों का अपूर्व उत्साह था। मुख्यतः शिक्षितवर्ग व्याख्यान सुनने आता था। यहाँ पर स्वामीजी माघ वदी १-२, दो दिन रहे थे। (वदी ३ का क्षय था)

माघ वदी ४ के दिन वहाँ के उगामेडी ग्राम की ओर विहार किया। ग्रामजनों ने उत्साह से स्वागत किया और यहाँ भी कृषकजनों ने अपने कार्य बन्द रखे। दोपहर को ३ से ४ तक व्याख्यान हुआ, जिसमें अधिकांश व्यक्ति उपस्थित थे।

वहाँ से माघ वदी ५ के दिन विहार करके गोरडका ग्राम आये। इस छोटे से गाँव में भी प्रतिदिन समयसार प्रवचनों का पठन-पाठन होता है। ग्रामवासियों की भक्ति-प्रेम अच्छा था। दोपहर को व्याख्यान के पश्चात् वहाँ के मनसुखलालभाई ने अपनी धर्मपत्नी सहित स्वामीजी के पास ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ग्रहण की थी।

माघ वदी ६ शुक्रवार के दिन गोरडका से नागलपर की ओर विहार किया, वहाँ मार्ग में टाटम गाँव आया, वहाँ के भक्तों के आग्रह से कुछ समय के लिये वहाँ रुके और मांगलिक सुनाया; पश्चात् वहाँ से नागलपर पधारे। वहाँ दोपहर २.०० से ३.०० तक प्रवचन हुआ था।

माघ वदी ७ के दिन नागलपर से बोटाद पधारे। बोटाद के भक्तमण्डल ने भव्य स्वागत किया। बोटाद में ७ से १० तक चार दिन रहे। वहाँ प्रतिदिन सबेरे एक घण्टे तक तत्त्वचर्चा होती थी और दोपहर को ३ से ४ तक व्याख्यान। तथा ८ से ९ तक रात्रि को तत्त्वचर्चा होती थी। ग्राम के अधिकांश व्यक्ति व्याख्यान और चर्चा का लाभ लेते थे। माघ वदी १० के दिन वहाँ के हरगोविन्दभाई गोपाणी तथा जगजीवनभाई पारेख, दोनों सज्जनों ने अपनी धर्मपत्नियों सहित स्वामीजी के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ली थी। इस प्रसंग पर सबेरे प्रवचन हुआ था, और उसमें मोक्षमाला के ''ब्रह्मचर्य सुभाषित'' काव्य का अर्थ अत्यन्त स्पष्ट रीति से समझाया गया था।

माघ वदी ११ बुधवार के दिन बोटाद से विहार करके भद्रावडी ग्राम पधारे। वहाँ दोपहर में तत्वचर्चा तथा प्रवचन हुआ था।

माघ वदी १२ गुरुवार के दिन भद्रावडी से विहार करके सरवा ग्राम आये थे। यहाँ 'पुरुषार्थ' सम्बन्धी बात निकलने से स्वामीजी ने कहा था कि—''पुरुषार्थी जीव के अनन्तभव केवली भगवान ने देखे ही नहीं हैं। जिसे केवली भगवान की प्रतीति हुई, उसके अनन्तभव होते ही नहीं। केवली भगवान भवरहित हैं, जिसे भवरहित जीव की श्रद्धा हुई, उसके अधिक भव होते ही

नहीं। मोक्ष के लिये जीव का पुरुषार्थ न चले-ऐसी बात जगत के किसी भी जीव को किसी भव में सुनने न मिले!'' दोपहर में ३ से ४ बजे तक व्याख्यान हुआ था।

वींछिया में प्रतिष्ठा महोत्सव

सरवा से विहार करके माघ वदी १३ शुक्रवार के दिन श्री कानजी स्वामी वींछिया पहुँचे। वींछिया के भक्तमण्डल का उत्साह अपार था। नगर को विविध प्रकार से सजाया गया था! स्वामीजी का भव्य स्वागत किया। सर्वप्रथम स्वामीजी जैनस्वाध्याय मन्दिर में पधारे और वहाँ मांगलिक सुनाकर उसका अर्थ किया। दोपहर को ३ से ४ बजे तक व्याख्यान तथा रात्रि में ८ से ९ तक चर्चा होती थी।

फाल्गुन सुदी १ से श्री पंचकल्याणक प्रतिष्ठा की विधि प्रारम्भ हुई थी। इस महान प्रतिष्ठा प्रसंग में अनेक ग्रामों के जिनबिम्ब थे। उससमय ऐसा लगता था मानों सौराष्ट्र देश में जिनेनद्रों के संघ उतरे हों! कुल मिलाकर ४२ प्रतिमाएँ थीं। एक ही साथ इतने वीतरागी जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा का ऐसा महान अवसर सौराष्ट्र में हजारों वर्ष में आया है। इस प्रतिष्ठा में मूलनायक के रूप में श्री चन्द्रप्रभ भगवान थे। पंचकल्याणक में विधिनायक श्री ऋषभदेव भगवान थे। प्रतिष्ठामंत्र (जिनके होने पर प्रतिमाएँ पूजनीक मानी जाती हैं) परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के शुभहस्त से हुए थे। वींछिया में प्रतिष्ठा करानेवाले सेठ श्री नेमिदास खुशालभाई (पोरबन्दरवाले) थे। और प्रतिष्ठा की विधि कराने के लिये इन्दौर से प्रतिष्ठाचार्य संहितासूरि पंडित श्री नाथूलालजी न्यायतीर्थ पधारे थे। इस अमूल्य अवसर को मुमुक्षुओं ने महान उत्साहपूर्वक सुशोभित किया था।

फाल्गुन सुदी १ से समवसरण विधान प्रारम्भ हुआ था, उसमें समवसरण की सुन्दर रचना करके उसकी पूजन की गई थी। रात्रि को प्रतिष्ठा महोत्सव से सम्बन्धित एक सुन्दर संवाद बालिकाओं ने किया था और दूसरे दिन बालकों ने भी एक संवाद किया था। दोनों संवादों में कितनी ही बातें विशेष आकर्षक थीं।

फाल्गुनु सदी ३ के दिन वेदी शुद्धि की विधि हुई थी। उसदिन रात्रि को भाईयों ने 'डांडिया रास' सहित भक्ति की थी।

फाल्गुन सुदी ४ (प्रथम) आज के दिन इन्द्रप्रतिष्ठा हुई, ११ इन्द्रों की स्थापना हुई और उन इन्द्रों को जुलूस के रूप में ग्राम में निकाला था, वह दृश्य अत्यन्त सुन्दर था। तथा याज्ञमण्डल की रचना करके उसमें भूत-भविष्य-वर्तमान के तीर्थंकरों, पंचपरमेष्ठी भगवानादि की स्थापना कर

उनकी पूजन की गई थी। दोपहर को व्याख्यान के पश्चात् वींछिया के त्रिभुवनभाई ने धर्मपत्नी सहित ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ली थी। रात्रि को ८ से ९ तक भगवान के गर्भकल्याणक की पूर्वक्रिया का दृश्य दिखलाया गया था। दूसरी चौथ के दिन भी गर्भकल्याणक की पूर्वविधि हुई थी, उसमें माताजी के १६ स्वप्नों का दृश्य, देव-देवियों द्वारा स्तुति, देवों द्वारा वस्त्रों की भेंट अर्पण तथा देवकुमारियाँ माता से विविध तत्त्व के प्रश्न पूछती हैं और माता उनके उत्तर देती हैं-आदि दृश्य दिखलाये गये थे।

जन्मकल्याणक महोत्सव

फाल्गुन सुदी ५ के दिन प्रातः जन्मकल्याणक उत्सव हुआ था। यह प्रसंग अत्यन्त उत्साहपूर्वक भव्यरीति से मनाया गया था। भगवान का जन्म होने पर इन्द्र-इन्द्रानी आकर बालक ऋषभकुमार भगवान को मेरुपर्वत पर जन्माभिषेक करने को ले जाते हैं, बालप्रभुजी हाथी पर विराजमान हैं। मेरुपर्वत के निकट पहुँचकर हाथी मेरुपर्वत को तीन प्रदक्षिण देता है, इससमय का दृश्य वास्तव में दर्शनीय था। और जब भगवान को मेरुपर्वत पर विराजमान देखा, उस समय तो मुमुक्षु भक्तजनों के हर्षोल्लास का पार नहीं था। अहो! अद्भुत दृश्य है! ऐसा दृश्य जीवन में कभी नहीं देखा, साक्षात् जन्मकल्याणक जैसा ही प्रतीत हो रहा है। अहो! जिनेन्द्रदेव तो अभी बालक हैं, फिर भी इतनी महिमा? यह सब वास्तव में चैतन्य की महिमा है; अन्तरंग में चैतन्यद्रव्य जागृत हुआ है, उसी का यह प्रताप है। पश्चात्, अत्यंत उत्साह और जय-जयकार के बीच प्रभुजी का जन्माभिषेक किया। अभिषेक होने के पश्चात् इन्द्राणी ने भगवान को वस्त्राभूषण पहिनाये। इसप्रकार जन्माभिषेक करके लौटते समय रथयात्रा का अद्भुत दृश्य था। घर आने पर इन्द्रों ने ताण्डवनृत्य किया था।

दोपहर को भगवान श्री ऋषभकुमार का पालना झुलाने की क्रिया हुई थी। रात्रि को इन्द्रों ने पुनः प्रभु के सन्मुख "अब तो मिले जगत के नाथ" ऐसी स्तुति गाकर भक्तिनृत्य किया था। उसके पश्चात् आदिकुमार भगवान का राज्याभिषेक हुआ था और महाराजाधिराज श्री आदिनाथ भगवान के राजदरबार में देश-देशों के राजा महाराजा भेंट रखने के लिये आये थे। और भी दृश्य हुए थे।

दीक्षाकल्याणक महोत्सव

फाल्गुन सुदी ६-आज भगवान आदिनाथ के महान् वैराग्य का दिन है। प्रातःकाल आदिनाथ महाराज का राजदरबार लगा है, नीलांजना देवी भक्ति से नृत्य कर रही है, नृत्य करते-

करते उस देवी की आयु पूर्ण हो जाती है और उसके स्थान पर अन्य देवियाँ आती हैं, अहो! संसार की ऐसी क्षणभंगुरता का दृश्य देखकर महाराज आदिनाथ भगवान परम वैराग्य को प्राप्त होते हैं, संसार से विरक्त होकर परम उपशमभाव से अन्तरंग में बारह वैराग्य भावनाओं का चिन्तवन कर रहे हैं। उसीसमय लौकान्तिक देव, प्रभु की स्तुति और वैराग्य की पुष्टि करने के लिये आते हैं और आकर स्तुति करते हैं, फिर भक्तिपूर्वक कहते हैं कि प्रभो! आप स्वयंबुद्ध हैं, आप इसी भव में केवलज्ञान प्रगट करके मुक्त होनेवाले हैं और जगत के जीवों को मुक्ति का मार्ग दर्शानेवाले हैं। अहो! धन्य है प्रभो आपकी वैराग्य भावना। समस्त संसार से विरक्त होकर भगवती जिनदीक्षा धारण करने के लिये आप जो चिंतवन कर रहे हो, उसे हमारी अत्यन्त अनुमोदना है, आपके दीक्षाकल्याणक महोत्सव की जय हो जय हो!

इसप्रकार वैराग्य की पुष्टि कराके लौकान्तिक देवों के जाने पर भगवान दीक्षा लेने के लिये पालकी में विराजमान होकर वन में संचरण करते हैं। भगवान के वैराग्य के यह सभी दृश्य सारी सभा को वैराग्यभावना में डुबा देते थे।

भगवान के पीछे-पीछे वैराग्य भक्ति करते हुए भक्तों के समूह चल रहे थे:—

वन्दों-वन्दों परम विरागी त्यागी जिनने रे,
थाये जिन दीगम्बर मुद्राधारी देव...
श्री ऋषभप्रभुजी तपोवनमां संचरे रे....

वन में पहुँचकर प्रभुजी एक विशाल वटवृक्ष के नीचे विराजमान हुए, राजवस्त्र उतारकर फेंक दिये, नग्न-मुद्रा धारण की, फिर केशलोंच किया। प्रभुश्री का केशलोंच करते समय पूज्य स्वामीजी ने कहा कि प्रभु तो स्वत: ही लोंच करते हैं, किन्तु यह तो प्रभु के दीक्षाकल्याणक की स्थापना है। दीक्षा के समय का वैराग्यदृश्य बहुत ही गम्भीर था। दीक्षा के पश्चात् प्रभु आत्मध्यान में लीन हो गये और मन:पर्ययज्ञान प्रगट हुआ। फिर भगवान वन में विहार कर गये।

भगवान की दीक्षाविधि पूर्ण होने के पश्चात् वहीं वन में ही पूज्य श्री कानजी स्वामी ने दीक्षाकल्याणक सम्बन्धी अपूर्व व्याख्यान किया था। इस दिन का व्याख्यान वास्तव में एक अनोखे ढंग का था। व्याख्यान के समय वैराग्य के रंग में रंगी हुई स्वामीजी की मुद्रा भावुक मुमुक्षुओं के हृदयपट पर अंकित हो गई है। व्याख्यान में स्वामीजी ने, मुनिदशा में आत्मा को अन्तरंग शान्ति की रसाधार होने का जो वर्णन किया था, उसे सुनकर मुमुक्षुओं के हृदय भावना से नाचने लगते थे और सारी सभा स्तब्ध बन गई थी।

व्याख्यान के पश्चात् भाई श्री अमरचन्दभाई तथा उनकी धर्मपत्नी रूपाली बहिन ने ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा लेकर प्रसंग को शोभित किया था। उसके पश्चात् वैराग्य में मग्न हुआ भक्तमण्डल लौट आया, पालकी में मात्र भगवान के केश थे।

दोपहर को १०.०० बजे श्री ऋषभदेव मुनिराज आहार के लिये नगर में पधारे। आहारदान का प्रसंग सेठ श्री प्रेमचन्दभाई के यहाँ हुआ था। आहारदान के समय का दृश्य अपूर्व उल्लासपूर्ण था।

पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा जिनेन्द्रप्रतिष्ठा मंत्र

दोपहर को १ बजे पूज्य स्वामीजी पधारे और श्री जिन प्रतिमाओं पर मंत्रविधि प्रारम्भ हुई। यह मंत्र-विधि होने के पूर्व प्रतिमाजी अपूज्य होती हैं और यह विधि होने पर पूज्य हो जाती हैं। प्रतिष्ठाविधान में यह क्रिया अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महापवित्र जिन प्रतिमाजी पर अपने पवित्र हाथों से पवित्र भावपूर्वक स्वर्ण की सली से 'ओं अं नमः' पवित्र मंत्र स्वामीजी ने लिखना प्रारम्भ किया। उस समय महान जय-जयकारपूर्वक भक्तजनों ने इस पवित्र प्रसंग को दीप्त किया था।

उसके पश्चात् दोपहर को २.०० बजे सर्वप्रतिमाजी पर नेत्रोल्मीलन विधि भी पूज्य स्वामीजी ने की थी।

केवलज्ञान-कल्याणक

दोपहर को ३ बजे प्रभुजी के केवलज्ञान कल्याणक का दृश्य हुआ था, जिसमें भगवान आदिनाथ आत्मध्यान में लीन हैं और उनको केवलज्ञान प्रगट होता है। उसीसमय देव आकर प्रभु को बधाई देते हैं, स्तुति करते हैं और समवसरण की रचना होती है। समवसरण में चतुर्मुख प्रभुजी विराजमान हैं, बारह सभायें भरी हुई हैं और भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है।

इस प्रसंग पर भगवान की दिव्यध्वनिरूप प्रवचन पूज्य श्री कानजी स्वामी ने किया था। जिसमें भगवान द्वारा दिव्यध्वनि में कहे गये उपदेश का सार वर्णित किया था। यह प्रवचन कल्याणकारी था।

आज के दिन दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक के प्रसंग अद्‌भुत थे और उन दोनों प्रसंगों के प्रवचन भी अपूर्व थे। आज का दिन अत्यंत आनन्द और उल्लास का था। मुमुक्षु भक्तों को ऐसा लगता था कि अहो! जीवन कृतार्थ हुआ। धन्य हैं जिनेन्द्र कल्याणक, धन्य उन पंचकल्याणकों की महिमा! हे जिनेन्द्र! आपके पंचकल्याणक हमारे आत्मा का कल्याण करें!

निर्वाणकल्याणक और श्री जिनेनद्रप्रतिष्ठा

फाल्गुन सुदी ७ सोमवार—आज दिन भगवान श्री चंद्रप्रभस्वामी और सुपार्श्वनाथ स्वामी के निर्वाण-कल्याणक की तिथि थी और ठीक इस दिन निर्वाणकल्याणक विधि तथा उन दो भगवन्तों की प्रतिष्ठा हुई थी, यह श्रेष्ठमंगल है। साथ ही पवित्र अष्टाह्निका पर्व का प्रारम्भ भी आज से ही था।

प्रात:काल सूर्योदय के समय निर्वाणकल्याणक का दृश्य हुआ, उसमें कैलासपर्वत रचा गया था, उस पर भगवान आदिनाथ योगनिरोध अवस्था में विराजमान थे। थोड़े ही समय पश्चात् भगवान निर्वाण को प्राप्त हुए। उसीसमय निर्वाणकल्याणक मनाने के लिये देव आये। अग्निकुमार देवों के मुमुट द्वारा अग्निसंस्कार हुआ और अन्त में शेषभस्म लेकर ''अहो प्रभो! जिस पवित्र दशा को आप प्राप्त हुए हैं, वही पवित्रदशा हमारी हो''—ऐसी भावनापूर्वक भक्तों ने उसे मस्तक पर चढ़ाया। पश्चात् निर्वाण पूजन हुई।

इसप्रकार महाप्रभावक श्री जिनेन्द्र पंचकल्याणक महोत्सव महान उत्साहपूर्वक समाप्त हुआ।

इस प्रसंग पर वींछिया के रतिलालभाई डगली और मगनलालभाई खारा ने अपनी धर्मपत्नियों सहित गुरुदेव के पास ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा धारण की।

उसके पश्चात् ८ से ९ बजे तक श्री चन्द्रप्रभ स्वामी आदि के प्रतिष्ठित जिनबिंब अत्यन्त उल्लासपूर्वक जिनमंदिर में पधराये गये। जब प्रभु जिनमन्दिर में पधारे, उससमय भक्तजनों का उल्लास और दर्शनों की अभिलाषा अपूर्व थी।

फिर महामांगलिक वेदी प्रतिष्ठा का समय आया और पवित्र जिनमन्दिर में श्री चन्द्रप्रभ भगवान की पूज्य श्री कानजी स्वामी ने महापवित्र भावों से प्रतिष्ठा की। उससमय मन्दिर जय-जयकार की ध्वनि से गुंजित हो उठा था-बोलो श्री चन्द्रप्रभ भगवान की जय! पश्चात् श्री चन्द्रप्रभ भगवान की दाहिनी ओर श्री सीमंधर स्वामी और बायीं ओर श्री शांतिनाथ भगवान की प्रतिमाएँ स्थापित कीं। फिर आदिनाथ भगवान तथा एक सिद्ध प्रतिमाजी की और ऊपर के भाग में श्री सुपार्श्वनाथ भगवान की स्थापना की। तत्पश्चात् मन्दिर के ऊपर दो कलश और ध्वजदंड चढ़ाया। इसप्रकार श्री जिनमन्दिर में महापवित्र देवाधिदेव भगवन्तों की प्रतिष्ठा पूर्ण हुई।

श्री जैन स्वाध्यायमन्दिर में प्रतिष्ठा

पश्चात् स्वाध्यामन्दिर में महापरमागम श्री समयसारजी की तथा ॐकार की प्रतिष्ठा पूज्य स्वामीजी ने ''नमः समयसाराय'' इत्यादि मंत्रोच्चार करके की थी, फिर नमः समयसाराय का मांगलिक प्रवचन किया और भक्तों ने कुछ समय स्वाध्यायमन्दिर में और जिनमन्दिर में कीर्तन-भक्ति की।

महोत्सव के दिनों में प्रतिदिन प्रातःकाल और संध्या के समय जप होता था। आज उसकी पूर्णाहुति हुई एवं शांतियज्ञ हुआ।

दोपहर को व्याख्यान के पश्चात् पिंजरापोल के लिये चन्दा हुआ, जिसमें लगभग एक हजार रुपये एकत्र हुए। और हरीभाई धोलकिया ने धर्मपत्नी सहित ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ग्रहण की।

रात्रि को श्री समयसारजी की पूजा हुई थी और दो बालिकाओं ने भक्ति की थी।

इसप्रकार वींछिया ग्राम में श्री जिनेन्द्रदेव की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का महान अवसर सानंद मनाया गया। सौराष्ट्र देश में जिनेन्द्रशासन की प्रभावना का ऐसा महान सुअवसर अत्यन्त उत्साह से पूर्ण करने के लिये वींछिया के सेठ श्री प्रेमचन्द लक्ष्मीचन्द और मुमुक्षु-मण्डल को धन्यवाद है। प्रतिष्ठाचार्य संहितासूरि पण्डित श्री नाथूलालजी न्यायतीर्थ उत्साही एवं शान्तस्वभावी थे, उन्होंने शास्त्रविधि के अनुसार प्रतिष्ठाविधि अत्यन्त उत्तमरीति से कराई थी और पंचकल्याणक आदि दृश्यों के समय उस सम्बन्धी संक्षिप्त विवेचन करके समझाते थे। कुछ भी भेंट स्वीकृत किये बिना, इन्दौर से पधारकर उन्होंने इस प्रतिष्ठा महोत्सव की सर्वविधि को उत्तमरीति से निर्विघ्न पूर्ण कराया, इसके लिये उनका अत्यन्त आभार माना जाता है।

परमपूज्य अध्यात्ममूर्ति श्री कानजी स्वामी के पुनीत प्रभाव से आज हजारों वर्ष पश्चात् यह सौराष्ट्र देश में फिर से पवित्र जिनेन्द्रशासन की स्थापना हो रही है। स्वामीजी के शुभहस्त से ऐसे पवित्र शासनप्रभावना के सैकड़ों महानकार्य हों और श्री जिनेन्द्रधर्मचक्र सर्वदा सर्वत्र प्रवर्तमान रहे।

आत्मधर्म के पाठकों से—

आगामी (४९ वें) अंक से आत्मधर्म का पाँचवाँ वर्ष प्रारंभ हो रहा है। इस वर्ष में कारणवशात् अथवा अन्य निमित्तों से किन्हीं पाठकों को अंक यथासमय न मिला हो, अथवा किसी भी प्रकार मानसिक क्षोभ हुआ हो तो क्षमाप्रार्थी हूँ। तथा विश्वास देता हूँ कि आगामी वर्ष योग्य व्यवस्था होगी। इस वर्ष में जिन महाशयों ने प्रचार आदि में सहयोग दिया, उनका आभारी हूँ।

आगामी वर्ष के लिये नवीन योजना

आगामी वर्ष का प्रथम अंक दशलक्षण धर्मांक के रूप में प्रकाशित हो रहा है। जिसमें आठ पेजी डैमी १०० पृष्ठ होंगे। इसमें कानजीस्वामी द्वारा पद्मनंदि पंचविंशतिका में से उत्तमक्षमादि धर्मों पर विशद विवेचन किये गये हैं। इस अंक का मूल्य ही कम से कम एक रुपया रहेगा और शेष दो रुपयों में एक वर्ष तक सब अंक पढ़ने को मिलेंगे।

तथा आगे भी पाठकों को पढ़ने के लिये अधिक सामग्री देने का प्रयास कर रहे हैं। आकार छपाई आदि (डैमी ८ पेजी साईज में बदलकर) भी अभी की अपेक्षा अधिक आकर्षक रहेंगे।

अत: आप भी विशेषांक शीघ्र चाहते हों तो अपना वार्षिक मूल्य यथाशीघ्र मनिआर्डर से भेज दीजियेगा। वी.पी. से अंक मंगाने पर आपको पाँच आना अधिक खर्च होगा तथा ब्रांच पोस्टआफिस होने से वी.पी. आदि होने में भी देरी होगी। आशा है मेरा यह सुझाव योग्य रहेगा। अन्य भाईयों को भी आत्मधर्म का ग्राहक बनने के लिये प्रोत्साहित करेंगे।

मनिआर्डर कूपन में ग्राहक नंबर अवश्य लिखें, अन्त में सब पाठकों को जैन स्वाध्यायमंदिर की ओर से धन्यवाद देता हूँ।

निवेदक

जमनादास रवाणी

प्रकाशक

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.३०-०३-४९
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड